स्वतन्त्रता के पश्चात फिल्मों के विषय-वस्तु में लटके-झटके, पारिवारिक कहानियों, प्रेमकथाओं आदि जैसे तत्वों की प्रधानता होती चली गई। दर्शकों को भी इसी तरह का सिनेमा देखने की आदत हो गई। सामाजिक परिवर्तन की परिकल्पना के प्रति वह बिलकुल तैयार नहीं था। उसे जो चाहिए था वो परोसा जा रहा था। वह विकल्प के लिए तैयार नहीं था। उसे भुवन सोम, उसकी रोटी, अंकुर, निशांत जैसी फिल्में नहीं चाहिए। उसे भव्य सेट्स, मनभावन विदेशी लोकेशन, बड़े-बड़े स्टार्स का अभिनय, चमक-दमक से भरा नाच-गाना, हीरो-विलेन के एक्शन सीन, दस-दस गुंडों से अकेला मुकाबला करता हीरो, प्रेम प्रसंग पर आधारित गुदगुदाने वाले कथा प्रसंग आदि ही चाहिए। इन सबके बीच मानवीय संबंधों, समाज की रूढ़िवादी व्यवस्था पर प्रहार करती सामाजिक परिवर्तन की दिशा दिखाते कथा प्रसंगों के प्रति उनकी रूचि कम होती गई। उन्हें शोले, दीवार, जूली जैसी फिल्मों के सामने श्याम बेनेगल की चरणदास चोर, निशांत और भूमिका जैसी फिल्में नहीं चाहिए थी क्योंकि इनमें बड़े स्टार्स और भव्य सेट्स नहीं थे। सिनेमा से जुड़े इन तथ्यों से हमें उदासीन नहीं होना चाहिए क्योंकि आज भी ऐसे अनेक फिल्मकार हैं जिन्होंने अपने शिल्प, तकनीकी क्षमता, सिनेमा की भाषा और अपनी प्रतिबद्धता से किसी भी स्थिति में समझौता नहीं किया। आजकल ऐसी बहुत सी फिल्में बन रही है जो हमें अपने जीवन से जुड़ी हुई लगती हैं। समाज की किसी न किसी समस्या को उठाती ये फिल्में दर्शकों को सोचने के लिए मजबूर अवश्य करती हैं। थ्री इडियट, पी.के., तारे जमीं पर, बधाई हो,